मन्त्रों का अन्वय एवं अनुवाद

(क) ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

अन्वयः– जगत्याम् यत् किम् च जगत्-सर्वम् इदम् ईशावास्यम्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। कस्यस्वित् धनम् मा गृधः॥

शब्दार्थः– ईशावास्यम्=ईश के निवास योग्य अर्थात् ईश्वर से व्याप्त संसार के नियन्ता द्वारा आच्छादित। जगत्याम्=जगती में, जगत् में। जगत्=निरन्तर परिवर्तित

Scanned with CamScanner

होने वाला संसार, चर या अचर। भुञ्जीथा:=भोग करो अर्थात् विषयवस्तु को ग्रहण करो। मा=मत। गृध:=लोभ करो (लालची बनो)। कस्यस्वित्=किसी का। तेन=इस कारण से। त्यक्तेन=त्यागभाव लिए हुए।

अनुवाद- हे संसारी जीव! जो कुछ भी इस जगती में निरन्तर परिवर्तनशील (बदलने वाला) संसार है, चर या अचर है, यह सम्पूर्ण ईश्वर से व्याप्त है अर्थात् सर्वत्र ईश्वरीय सत्ता है। अत: त्याग भावना से ही जीवन निर्वाह अर्थात् त्यागपूर्वक उसका उपभोग करो। किसी (अन्य) के धन का लोभ मत करो अर्थात् दूसरे के धन के लिए लालची मत बनो।

विशेष- आशय यह है कि संसार में सभी भौतिक पदार्थ प्राणियों के ही उपयोग के लिए हैं, परन्तु सभी पदार्थों का उपभोग आसक्ति के बिना ही त्याग भावना से करना चाहिये। अन्य व्यक्तियों की धनादि सम्पत्ति के प्रति लोभ नहीं करना चाहिए। यह संसार एवं यहाँ के सभी पदार्थ नष्ट होने वाले हैं। यह जगत् भी सदा परिवर्तनशील है और यहाँ जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब ईश्वर से युक्त है। ऐसा सोचते हुए उस प्रभु द्वारा प्रदत्त प्रत्येक वस्तु का उपभोग त्यागभावना से करो तथा किसी दूसरे के धन का लालच मत करो। व्याकरणात्मक टिप्पणी– ईशस्य ईशेन वा आवास्यम्–ईशावास्यम्। जगत्–गच्छति इति। भुञ्जीथा:–भुज् (धातु) (आत्मनेपदी)+विधि लिङ्, मध्यम पुरुष एकवचन। गृध:–गृध् (धातु)+लुङ्-मध्यमपुरुष, एकवचन। व्याकरण के नियमानुसार निषेधार्थक अव्यय 'माङ्' के योग में 'अगृध:' के आरम्भ में विद्यमान 'अ' का लोप होता है। 'माङिलुङ्।

(ख) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समा:।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

अन्वय:- इह कर्माणि कुर्वन् एव शतं समा: जिजीविषेत्। एवम् इत: त्वयि अन्यथा न अस्ति। नरे कर्म न लिप्यते।

शब्दार्थ: कुर्वन् एव=करते हुए ही। जिजीविषेत्=जीने की इच्छा करे। शतम्=सौ। समा:=वर्ष। एवम्=इसप्रकार। लिप्यते=लिप्त होता है। अन्यथा=इससे भिन्न। नरे=(न आसक्त होने वाले) नर में।

अनुवाद- इस संसार में कर्म करते हुए ही (मानव) सौ वर्षों तक जीने की इच्छा करे। इसप्रकार यहाँ से अर्थात् इस संसार में रहने से, तुम में कुछ भी अन्यथा (इससे भिन्न) नहीं है, (क्योंकि) न आसक्त होने वाले मनुष्य में कर्म लिप्त नहीं होता अर्थात् मानव कर्म करते हुए कर्त्तव्यभावना से युक्त हो तो वह कर्म से लिप्त नहीं होता।

विशेष- इस संसार में रहते हुए मनुष्य को कर्त्तव्यभावना से कर्म करना चाहिए, उसमें लिप्त नहीं होना चाहिए। तभी वह शतायु होने की कामना करने का

Scanned with CamScanner

अधिकारी है। गीता में भी कहा गया है कि 'लिप्यते न स पापेन'। व्याकरणात्मक टिप्पणी– कुर्वन्-कृ (धातु) +शतृ, पुल्लिंग, प्रथमा विभक्ति, एकवचन। जिजीविषेत्-जीव् (धातु) इच्छार्थक सन् प्रत्यय+विधिलिङ्। जीव्+सन्+विधिलिङ्, प्रथम पुरुष, एकवचन। लिप्यते–लिप् (धातु)+कर्मणि प्रयोग+लट्, प्रथम पुरुष, एकवचन।

सब उसी का है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब काम छोड़कर हाथ पर हाथ धरकर बैठा जाए। मनुष्य कर्म करे, परन्तु निष्काम कर्म करे।

(ग) असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृता:
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जना: ॥३॥

अन्वय:- ते लोका: अन्धेन तमसा आवृता:, असुर्या: नाम। ये के च आत्महन: जना: ते तान् प्रेत्य अभिगच्छन्ति।

शब्दार्थ: असुर्या:=प्रकाशरहित या असुर से सम्बद्ध, अविद्या आदि दोषों से युक्त, प्राणपोषण में लीन। अन्धेन तमसा=अत्यन्त अज्ञानरूपी अँधेरे से। आवृता: =आच्छादित, ढके हुए। प्रेत्य=मर कर, मृत्यु को पा कर। अभिगच्छन्ति=की ओर जाते हैं। आत्महन:=आत्मा का हनन करने वाले, आत्मा की व्यापकता को स्वीकार न करने वाले।

अनुवाद- वे लोक जो अत्यन्त अज्ञानरूपी अन्धकार से आच्छादित हैं अर्थात् ढके हुए हैं, उन्हें प्रकाशहीन अथवा असुर सम्बन्धी कहते हैं। वे अविद्या आदि दोषों से युक्त हैं (अपने) प्राणों के पोषण में निरत हैं या लीन हैं तथा जो कोई आत्मा की व्यापकता को स्वीकार नहीं करते हैं, वे लोग मर कर या मृत्यु को प्राप्त करके उन लोकों में जाते हैं।

विशेष- जो लोक प्रकाशरहित हैं या अविद्या आदि अवगुणों से पूर्ण हैं अथवा अपने प्राणों को पालने में ही लगे रहते हैं, वे अज्ञान के अन्धेरे से आच्छादित हैं। उन लोकों में वही लोग मर कर पहुँचते हैं जो आत्मा की व्यापकता को नहीं मानते। व्याकरणात्मक टिप्पणी– असुर्या:–असुर+य:, असुर्य प्रथमा, बहुवचन। तम:=अज्ञान का बोधक। आवृता:–आ+वृ (धातु)+क्त, बहुवचन। प्रेत्य–प्र+इण् (इ)+ल्यप्। आत्महन:–आत्मानं ये घ्नन्ति। आत्मानम्–ईशं सर्वत: पूर्णं चिदानन्दं घ्नन्ति=तिरस्कुर्वन्ति।

(घ) अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

अन्वय:- तत् एकम् अनेजत्, मनस: जवीय:, अर्षत्, एनत् पूर्वम् देवा: न आप्नुवन्। तिष्ठत् (तत्) धावत: अन्यान् अत्येति। अप: मातरिश्वा तस्मिन् दधाति।

शब्दार्थ- अनेजत्=कम्पन से रहित, विकाररहित, स्थिर, अचल। जवीय:= अधिक वेग वाला। एनत्=इसको। आप्नुवन्=प्राप्त किया। अर्षत्=गमनशील। धावत:=दौड़ते

Scanned with CamScanner

हुओं के (पास)। अन्यान्=दूसरों की ओर। अत्येति=जाता है। तिष्ठत्=स्थिर रहने वाला, परिवर्तनरहित। मातरिश्वा=वायु, प्राणवायु। दधाति=धारण करता है।

अनुवाद-आत्मतत्त्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह आत्मतत्त्व एक है। वह कम्पनरहित है, विकाररहित है, स्थिर है, अचल है। मन से भी अधिक वेग वाला है। वह गमनशील है। इस आत्मतत्त्व को पहले देवताओं ने (भी) नहीं प्राप्त किया। वह स्थिर रहने वाला परिवर्तनरहित आत्मतत्त्व ठहरा हुआ ही अन्य दौड़ते हुओं को पीछे छोड़ देता है। उसी के कारण वायु जो स्वयं हल्की है अपने से भारी जल को उठा लेती है। वह इन्द्रियों से भी पूर्व वर्तमान है।

Scanned with CamScanner